अपना अपना भाग्य - जैनेन्द्र कुमार

बहुत कुछ निरुद्देश्य घूम चुकने पर हम सड़क के किनारे की एक बेंच पर बैठ गए। नैनीताल की संध्या धीरे-धीरे उतर रही थी। रूई के रेशे-से भाप-से बादल हमारे सिरों को छू-छूकर बेरोक-टोक घूम रहे थे। हल्के प्रकाश और अंधियारी से रंगकर कभी वे नीले दीखते, कभी सफेद और फिर देर में अरुण पड़ जाते। वे जैसे हमारे साथ खेलना चाह रहे थे।

पीछे हमारे पोलो वाला मैदान फैला था। सामने अंग्रेजों का एक प्रमोदगृह था, जहां सुहावना, रसीला बाजा बज रहा था और पार्श्व में था वही सुरम्य अनुपम नैनीताल।

ताल में किश्तियां अपने सफेद पाल उड़ाती हुई एक-दो अंग्रेज यात्रियों को लेकर, इधर से उधर और उधर से इधर खेल रही थीं। कहीं कुछ अंग्रेज एक-एक देवी सामने प्रतिस्थापित कर, अपनी सुई-सी शक्ल की डोंगियों को, मानो शर्त बांधकर सरपट दौड़ा रहे थे। कहीं किनारे पर कुछ साहब अपनी बंसी डाले, सधैर्य, एकाग्र, एकस्थ, एकनिष्ठ मछली-चिन्तन कर रहे थे। पीछे पोलो-लान में बच्चे किलकारियां मारते हुए हॉकी खेल रहे थे।

शोर, मार-पीट गाली-गलौच भी जैसे खेल का ही अंश था। इस तमाम खेल को उतने क्षणों का उद्देश्य बना, वे बालक अपना सारा मन, सारी देह, समग्र बल और समूची विधा लगाकर मानो खत्म कर देना चाहते थे। उन्हें आगे की चिन्ता न थी, बीते का ख्याल न था। वे शुद्ध तत्काल के प्राणी थे। वे शब्द की सम्पूर्ण सच्चाई के साथ जीवित थे।

सड़क पर से नर-नारियों का अविरल प्रवाह आ रहा था और जा रहा था। उसका न ओर था न छोर। यह प्रवाह कहां जा रहा था, और कहां से आ रहा था, कौन बता सकता है? सब उम्र के, सब तरह के लोग उसमें थे। मानो मनुष्यता के नमूनों का बाजार सजकर सामने से इठलाता निकला चला जा रहा हो।

अधिकार-गर्व में तने अंग्रेज उसमें थे और चिथड़ों से सजे घोड़ों की बाग थामे वे पहाड़ी उसमें थे, जिन्होंने अपनी प्रतिष्ठा और सम्मान को कुचलकर शून्य बना लिया है और जो बड़ी तत्परता से दुम हिलाना सीख गए हैं।

भागते, खेलते, हंसते, शरारत करते लाल-लाल अंग्रेज बच्चे थे और पीली-पीली आंखें फाड़े, पिता की उंगली पकड़कर चलते हुए अपने हिन्दुस्तानी नौनिहाल भी थे। अंग्रेज पिता थे, जो अपने बच्चों के साथ भाग रहे थे,

हंस रहे थे और खेल रहे थे। उधर भारतीय पितृदेव भी थे, जो बुजुर्गी को अपने चारों तरफ लपेटे धन-संपन्नता के लक्षणों का प्रर्दशन करते हुए चल रहे थे।

अंग्रेज रमणियां थीं, जो धीरे-धीरे नहीं चलती थीं, तेज चलती थीं। उन्हें न चलने में थकावट आती थी, न हंसने में मौत आती थी। कसरत के नाम पर घोड़े पर भी बैठ सकती थीं और घोड़े के साथ ही साथ, जरा जी होते ही किसी-किसी हिन्दुस्तानी पर कोड़े भी फटकार सकती थीं। वे दो-दो, तीन-तीन, चार-चार की टोलियों में, नि:शंक, निरापद इस प्रवाह में मानो अपने स्थान को जानती हुई, सड़क पर चली जा रही थीं।

उधर हमारी भारत की कुललक्ष्मी, सड़क के बिल्कुल किनारे दामन बचाती और संभालती हुई, साड़ी की कई तहों में सिमट-सिमटकर, लोक-लाज, स्त्रीत्व और भारतीय गरिमा के आदर्श को अपने परिवेष्टनों में छिपाकर सहमी-सहमी धरती में आंख गाड़े, कदम-कदम बढ़ रही थीं।

इसके साथ ही भारतीयता का एक और नमूना था। अपने कालेपन को खुरच-खुरचकर बहा देने की इच्छा करनेवाला अंग्रेजीदां पुरुषोत्तम भी थे, जो नेटिवों को देखकर मुंह फेर लेते थे और अंग्रेज को देखकर आंखे बिछा देते थे और दुम हिलाने लगते थे। वैसे वे अकड़कर चलते थे-मानो भारतभूमि को इसी अकड़ के साथ कुचल-कुचलकर चलने का उन्हें अधिकार मिला है।

घण्टे के घण्टे सरक गए। अंधकार गाढ़ा हो गया। बादल सफेद होकर जम गए। मनुष्यों का वह तांता एक-एक कर क्षीण हो गया। अब इक्का-दुक्का आदमी सड़क पर छतरी लगाकर निकल रहा था। हम वहीं के वहीं बैठे थे। सर्दी-सी मालूम हुई। हमारे ओवरकोट भीग गए थे। पीछे फिरकर देखा। यह लाल बर्फ की चादर की तरह बिल्कुल स्तब्ध और सुन्न पड़ा था।

सब सन्नाटा था। तल्लीलाल की बिजली की रोशनियां दीप-मालिका-सी जगमगा रही थीं। वह जगमगाहट दो मील तक फैले हुए प्रकृति के जलदर्पण पर प्रतिबिम्बित हो रही थी और दर्पण का कांपता हुआ, लहरें लेता हुआ, वह जल प्रतिबिम्बों को सौगुना, हजारगुना करके, उनके प्रकाश को मानो एकत्र और पूंजीभूत करके व्याप्त कर रहा था। पहाड़ों के सिर पर की रोशनाईयां तारों-सी जान पड़ती थीं।

हमारे देखते-देखते एक घने पर्दे ने आकर इन सबको ढक दिया। रोशनियां मानो मर गईं। जगमगाहट लुप्त हो गईं। वे काले-काले भूत-से पहाड़ भी इस सफेद पर्दे के पीछे छिप गए। पास की वस्तु भी न दीखने लगी। मानो यह घनीभूत प्रलय था। सब कुछ इस घनी गहरी सफेदी में दब गया। एक शुभ्र महासागर ने फैलकर संस्कृति के सारे अस्तित्व को डुबो दिया। ऊपर-नीचे, चारों तरफ वह निर्भेद्य, सफेद शून्यता ही फैली हुई थी।

ऐसा घना कुहरा हमने कभी न देखा था। वह टप-टप टपक रहा था। मार्ग अब बिल्कुल निर्जन-चुप था। वह प्रवाह न जाने किन घोंसलों में जा छिपा था। उस वृहदाकार शुभ्र शून्य में कहीं से, ग्यारह बार टन-टन हो उठा। जैसे कहीं दूर कब्र में से आवाज आ रही हो। हम अपने-अपने होटलों के लिए चल दिए। रास्ते में दो मित्रों का

होटल मिला। दोनों वकील मित्र छुट्टी लेकर चले गए। हम दोनों आगे बढ़े। हमारा होटल आगे था।

ताल के किनारे-किनारे हम चले जा रहे थे। हमारे ओवरकोट तर हो गए थे। बारिश नहीं मालूम होती थी, पर वहां तो ऊपर-नीचे हवा से कण-कण में बारिश थी। सर्दी इतनी थी कि सोचा, कोट पर एक कम्बल और होता तो अच्छा होता।

रास्ते में ताल के बिलकुल किनारे पर बेंच पड़ी थी। मैं जी में बेचैन हो रहा था। झटपट होटल पहुंचकर इन भीगे कपड़ों से छुट्टी पा, गरम बिस्तर में छिपकर सोना चाहता था पर साथ के मित्रों की सनक कब उठेगी, कब थमेगी-इसका पता न था। और वह कैसी क्या होगी-इसका भी कुछ अन्दाज न था। उन्होंने कहा-"आओ, जरा यहां बैठें।"

हम उस चूते कुहरे में रात के ठीक एक बजे तालाब के किनारे उस भीगी बर्फ-सी ठंडी हो रही लोहे की बेंच पर बैठ गए।

पांच, दस, पन्द्रह मिनट हो गए। मित्र के उठने का इरादा न मालूम हुआ। मैंने खिसियाकर कहा-

"चलिए भी।"

"अरे जरा बैठो भी।"

हाथ पकड़कर जरा बैठने के लिए जब इस जोर से बैठा लिया गया तो और चारा न रहा- लाचार बैठे रहना पड़ा। सनक से छुटकारा आसान न था, और यह जरा बैठना जरा न था, बहुत था।

चुपचाप बैठे तंग हो रहा था, कुढ़ रहा था कि मित्र अचानक बोले-

"देखो... वह क्या है?"

मैंने देखा-कुहरे की सफेदी में कुछ ही हाथ दूर से एक काली-सी सूरत हमारी तरफ बढ़ी आ रही थी। मैंने कहा-"होगा कोई।"

तीन गज की दूरी से दीख पड़ा, एक लड़का सिर के बड़े-बड़े बालों को खुजलाता चला आ रहा है। नंगे पैर है, नंगा सिर। एक मैली-सी कमीज लटकाए है। पैर उसके न जाने कहां पड़ रहे हैं, और वह न जाने कहां जा रहा है- कहां जाना चाहता है। उसके कदमों में जैसे कोई न अगला है, न पिछला है, न दायां है, न बायां है।

पास ही चुंगी की लालटेन के छोटे-से प्रकाशवृत्त में देखा-कोई दस बरस का होगा। गोरे रंग का है, पर मैल से

काला पड़ गया है। आंखें अच्छी बड़ी पर रूखी हैं। माथा जैसे अभी से झुर्रियां खा गया है। वह हमें न देख पाया। वह जैसे कुछ भी नहीं देख रहा था। न नीचे की धरती, न ऊपर चारों तरफ फैला हुआ कुहरा, न सामने का तालाब और न बाकी दुनिया। वह बस, अपने विकट वर्तमान को देख रहा था।

मित्र ने आवाज दी-"ए!"

उसने जैसे जागकर देखा और पास आ गया।

"तू कहां जा रहा है?"

उसने अपनी सूनी आंखें फाड़ दीं।

"दुनिया सो गई, तू ही क्यों घूम रहा है?"

बालक मौन-मूक, फिर भी बोलता हुआ चेहरा लेकर खड़ा रहा।

"कहां सोएगा?"

"यहीं कहीं।"

"कल कहां सोया था?"

"दुकान पर।"

"आज वहां क्यों नहीं?"

"नौकरी से हटा दिया।"

"क्या नौकरी थी?"

"सब काम। एक रुपया और जूठा खाना!"

"फिर नौकरी करेगा?"

"हां।"

"बाहर चलेगा?"

"हां।"

"आज क्या खाना खाया?"

"कुछ नहीं।"

"अब खाना मिलेगा?"

"नहीं मिलेगा!"

'यों ही सो जाएगा?"

"हां।"

"कहां।"

"यहीं कहीं।"

"इन्हीं कपड़ों में?"

बालक फिर आंखों से बोलकर मूक खड़ा रहा। आंखें मानो बोलती थीं-यह भी कैसा मूर्ख प्रश्न!

"मां-बाप हैं?"

"हैं।"

"कहां?"

"पन्द्रह कोस दूर गांव में।"

"तू भाग आया?"

"हां!"

"क्यों?"

"मेरे कई छोटे भाई-बहिन हैं-सो भाग आया वहां काम नहीं, रोटी नहीं। बाप भूखा रहता था और मारता था मां भूखी रहती थी और रोती थी। सो भाग आया। एक साथी और था। उसी गांव का। मुझसे बड़ा था। दोनों साथ यहां आए। वह अब नहीं हैं।,

"कहां गया?"

"मर गया।"

"मर गया।"

"मर गया?"

"हां, साहब ने मारा, मर गया।"

"अच्छा, हमारे साथ चल।"

वह साथ चल दिया। लौटकर हम वकील दोस्तों के होटल में पहुंचे।

"वकील साहब!"

वकील लोग होटल के ऊपर के कमरे से उतरकर आए। कश्मीरी दोशाला लेपेटे थे, मोजे-चढ़े पैरों में चप्पल थी। स्वर में हल्की-सी झुंझलाहट थी, कुछ लापरवाही थी।

"आ-हा फिर आप! कहिए।"

"आपको नौकर की जरूरत थी न? देखिए, यह लड़का है।"

"कहां से ले आए? इसे आप जानते हैं?"

"जानता हूं-यह बेईमान नहीं हो सकता।"

"अजी, ये पहाड़ी बड़े शैतान होते हैं। बच्चे-बच्चे में गुल छिपे रहते हैं। आप भी क्या अजीब हैं। उठा लाए कहीं से-लो जी, यह नौकर लो।"

"मानिए तो, यह लड़का अच्छा निकलेगा।"

"आप भी... जी, बस खूब है। ऐरे-गैरे को नौकर बना लिया जाए, अगले दिन वह न जाने क्या-क्या लेकर चम्पत हो जाए!"

"आप मानते ही नहीं, मैं क्या करूं?'

"मानें क्या, खाक? आप भी... जी अच्छा मजाक करते हैं।... अच्छा, अब हम सोने जाते हैं।" और वे चार रुपये रोज के किराये वाले कमरे में सजी मसहरी पर सोने झटपट चले गए।

वकील साहब के चले जाने पर, होटल के बाहर आकर मित्र ने अपनी जेब में हाथ डालकर कुछ टटोला। पर झट कुछ निराश भाव से हाथ बाहर कर मेरी ओर देखने लगे।

"क्या है?"

"इसे खाने के लिए कुछ-देना चाहता था" अंग्रेजी में मित्र ने कहा-"मगर, दस-दस के नोट हैं।"

"नोट ही शायद मेरे पास हैं, देखूं?"

सचमुच मेरे पाकिट में भी नोट ही थे। हम फिर अंग्रेजी में बोलने लगे। लड़के के दांत बीच-बीच में कटकटा उठते थे। कड़ाके की सर्दी थी।

मित्र ने पूछा-"तब?"

मैंने कहा-"दस का नोट ही दे दो।" सकपकाकर मित्र मेरा मुंह देखने लगे-"अरे यार! बजट बिगड़ जाएगा। हृदय में जितनी दया है, पास में उतने पैसे तो नहीं हैं।"

"तो जाने दो, यह दया ही इस जमाने में बहुत है।" मैंने कहा। मित्र चुप रहे। जैसे कुछ सोचते रहे। फिर लड़के से बोले-"अब आज तो कुछ नहीं हो सकता। कल मिलना। वह 'होटल डी पब' जानता है? वहीं कल दस बजे मिलेगा?"

"हां, कुछ काम देंगे हुज़ूर?"

"हां, हां, ढूंढ दूंगा।"

"तो जाऊं?"

"हां," ठंडी सांस खींचकर मित्र ने कहा-"कहां सोएगा?"

"यहीं कहीं बेंच पर, पेड़ के नीचे किसी दुकान की भट्ठी में।"

बालक फिर उसी प्रेत-गति से एक ओर बढ़ा और कुहरे में मिल गया। हम भी होटल की ओर बढ़े। हवा तीखी थी-हमारे कोटों को पार कर बदन में तीर-सी लगती थी।

सिकुड़ते हुए मित्र ने कहा-"भयानक शीत है। उसके पास कम-बहुत कम
कपड़े..."

"यह संसार है यार!" मैंने स्वार्थ की फिलासफी सुनाई-"चलो, पहले बिस्तर में गर्म हो लो, फिर किसी और की चिन्ता करना।"

उदास होकर मित्र ने कहा-"स्वार्थ!-जो कहो, लाचारी कहो, निष्ठुरता कहो, या बेहयाई!"

दूसरे दिन नैनीताल- स्वर्ग के किसी काले गुलाम पशु के दुलारे का वह बेटा- वह बालक, निश्चित समय पर हमारे 'होटल डी पब' में नहीं आया। हम अपनी नैनीताल की सैर खुशी-खुशी खत्म कर चलने को हुए। उस लड़के की आस लगाते बैठे रहने की जरूरत हमने न समझी।

मोटर में सवार होते ही थे कि यह समाचार मिला कि पिछली रात, एक पहाड़ी बालक सड़क के किनारे, पेड़ के नीचे, ठिठुरकर मर गया!

मरने के लिए उसे वही जगह, वही दस बरस की उम्र और वही काले चिथड़ों की कमीज मिली। आदमियों की दुनिया ने बस यही उपहार उसके पास छोड़ा था।

पर बताने वालों ने बताया कि गरीब के मुंह पर, छाती मुट्ठी और पैरों पर बरफ की हल्की-सी चादर चिपक गई थी। मानो दुनिया की बेहयाई ढकने के लिए प्रकृति ने शव के लिए सफेद और ठण्डे कफन का प्रबन्ध कर दिया था।

सब सुना और सोचा, अपना-अपना भाग्य।